भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यों द्वारा विवेचित मध्यकालीन जैनेतर दार्शनिक वाद

डॉ० मोहनचन्द

वेद मूलतः दार्शनिक ग्रन्थ नहीं हैं परन्तु भारतीय दर्शन की मूल समस्या—जगत्, उसके निर्माता एवं उसके कार्य-कारण की खोज—का प्रारम्भिक इतिहास सर्वप्रथम वेद में ही उपलब्ध होता है। वैदिक मंत्र-द्रष्टा अग्नि-साधना तथा देवोपासना की धार्मिक गतिविधियों में केन्द्रित रहता हुआ भी दार्शनिक दृष्टि से जगत् एवं उसके निर्माता की खोज करने के प्रति विशेष सावधान है। वह नाना प्रकार की आलंकारिक कल्पनाओं द्वारा सृष्टि के रहस्य तक पहुंचना चाहता है। वह पूछता है कि भला वह कौन सा वृक्ष होगा जिससे पृथ्वी और आकाश बने ?[1] यज्ञानुष्ठान करते हुए भी वह इस जिज्ञासा को नहीं छोड़ पाता है कि जिससे वह जान सके कि घृत, समिधा आदि हवन-सामग्री उसे किस मूल स्रोत से प्राप्त हुई होंगी।[2] अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, त्वष्टा आदि जिस किसी देव की स्तुति करने आदि का उसे अवसर मिला है, वह सृष्टि-निर्माता के रूप में ही उनके महत्त्व को उभारना चाहता है।[3] परन्तु वैदिक चिन्तक अभी भी सृष्टि के रहस्य को नहीं समझ पाया। अन्ततोगत्वा वैदिक चिन्तक को एक शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण द्वारा सृष्टि के मूल की खोज करनी पड़ी। सर्वप्रथम उसे ऐसा आभास हुआ कि सृष्टि से पूर्व न तो सत् था और न ही असत्।[4] फिर उसने पाया कि कुछ भौतिक तत्त्व सृष्टि से पूर्व भी रहे थे।[5] इस अनुसंधान की प्रक्रिया में उसे 'एक' ऐसा तत्त्व भी मिल गया जो अव्यक्त रूप से चेतन था परन्तु 'तपस्' की सहायता से सृष्टि की रचना कर सकता था।[6] वैदिक चिन्तक की इस दार्शनिक उपलब्धि ने उसे और आगे सोचने के लिए विवश किया तथा 'हिरण्यगर्भ' के रूप में सृष्टि-निर्माता का एक दूसरा सूत्र भी उसके हाथ लग गया।[7] उसे अब यह भी अहसास हो चुका था कि जिन नाना देव-शक्तियों की विश्व-निर्माता के रूप में वह पहले आराधना करता आया है, वह व्यर्थ था। हिरण्यगर्भ के रूप में उसे एक ही शक्ति मिल चुकी थी जो उसका सर्वशक्तिमान आराध्य देव भी था और साथ ही वास्तविक सृष्टि का निर्माता भी।[8] दार्शनिक चिन्तन की उड़ान अब अपनी दिशा ले चुकी थी तथा इसी प्रक्रिया में उसे एक 'सहस्रशीर्ष' पुरुष का दर्शन हुआ,[9] जो उसकी आकृति से भी मिलता-जुलता था, किन्तु वह अत्यन्त विराट् रूप वाला था, जिसके हजार सिर तथा हजार हाथ-पांव भी थे। वैदिक चिन्तक अब पूरी तरह से विश्वस्त हो चुका था कि ऐसा विराट् पुरुष ही इतने बड़े जगत् का निर्माण कर सकता है।[10]

---

१. "किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।" ऋग्वेद, १०/३१/७
२. द्रष्टव्य—देवराज : पूर्वी और पश्चिमी दर्शन; लखनऊ; १९५१, पृ० ४६
३. द्रष्टव्य—उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, लखनऊ, (चतुर्थ संस्करण), १९७५, पृ० ३५
४. 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्।" ऋग्वेद, १०/१२९/१
५. "तम आसीत् तमसा गूलहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।", ऋग्वेद, १०/१२९/३
६. "आनीदवातं स्वधया तदेकं।"···"तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्।"
"तपस्तन्महिनाजायतैकम्।" ऋग्वेद, १०/१२९/२-३
७. द्रष्टव्य—ऋग्वेदोक्त हिरण्यगर्भसूक्त, १०/१२१
८. "ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम।" ऋग्वेद, १०/१२१/७
९. द्रष्टव्य, ऋग्वेदोक्त पुरुषसूक्त, १०/९०
१०. "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।" ऋग्वेद, १०/९०/३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औपनिषदिक दार्शनिक चिन्तन

वैदिक मंत्र-द्रष्टा की उपर्युक्त दार्शनिक खोज के साथ ही भारतीय दर्शन का युक्तिसंगत चिन्तन प्रारम्भ होता है। उपनिषद्-काल के चिन्तकों ने वैदिक पुरुषवाद का ही विकास करते हुए ब्रह्मवाद[1], आत्मवाद[2] तथा जगत्-सम्बन्धी मायावाद[3] आदि मान्यताओं को दार्शनिक शैली में प्रस्तुत किया। परन्तु वैदिक एवं औपनिषदिक चिन्तन-परम्परा के अतिरिक्त कुछ प्रतिद्वन्द्वी अन्य दार्शनिकों ने भी जगत् तथा उसके मूल कारण के सम्बन्ध में अपनी-अपनी मान्यताएं स्थापित कर रखी थीं। औपनिषदिक विचारकों के साथ सर्वप्रथम इनका टकराव हुआ, जिसकी पुष्टि 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' से होती है। यह उपनिषद् यह उल्लेख करता है कि वैदिक परम्परा के ब्रह्मवाद के सन्दर्भ में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद आदि अन्य दार्शनिक मान्यताएं भी उस समय प्रचलित हो चुकी थीं जो क्रमशः काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत आदि को सृष्टि का मूल कारण स्वीकार करती थीं।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद्-काल में ही भारतीय दर्शन की मुख्य चिन्तन-समस्या यह रही थी कि सृष्टि के निर्माण में किसी व्यक्त या अव्यक्त चेतन की सत्ता को स्वीकार किया जाए अथवा फिर काल, स्वभाव अथवा भौतिक पदार्थों द्वारा सीधे ही सृष्टि-निर्माण की संभावना कर ली जाए। जहां तक युक्तिपरकता का प्रश्न है, दोनों प्रकार की संभावनाएं सबल जान पड़ती हैं, परन्तु कतिपय सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के बिखराव के कारण वैदिक पुरुषवाद की मान्यता को कुछ धक्का भी लगा। वैदिक कर्मकाण्डों में होने वाली हिंसा तथा पौरोहित्यवाद जैसी सामाजिक कुरीतियों के कारण अनेक वेद-विरोधी शक्तियां सक्रिय हो चुकी थीं। वेद-समर्थक एवं वेद-विरोधी दार्शनिकों ने एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप भी किए जिसका एक मुख्य परिणाम यह निकला कि भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। परवर्ती काल में इन दार्शनिक सम्प्रदायों को दो मुख्य वर्गों में रखने की परम्परा भी प्रकट हुई। **नास्तिको वेदनिन्दकः**—(मनुस्मृति, २.११) के आधार पर जैन, बौद्ध एवं चार्वाक 'नास्तिक' दर्शनों के वर्ग में रख दिए गए और शेष मौलिक परम्परा से सम्बद्ध दर्शनों को 'आस्तिक' की संज्ञा प्राप्त हुई।[5] इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि आठवीं शताब्दी ईस्वी के जैन दार्शनिक हरिभद्र सूरि उपर्युक्त वर्गीकरण से असहमत होते हुए जैन एवं बौद्ध दर्शनों को भी मूल दर्शन स्वीकार करते हैं।[6] दसवीं शताब्दी ई० में सोमदेवाचार्य द्वारा वेदों को प्रमाण मान लेने की जिस जैन मान्यता का समर्थन किया गया है[7], उससे भी यह तर्क निर्बल पड़ जाता है कि जैन दर्शन को वेद-विरोधी होने के कारण 'नास्तिक' संज्ञा दी जाए। सच तो यह है कि आस्तिक माने जाने वाले सांख्य-वेदान्त आदि दर्शन भी अपनी तत्त्व-मीमांसा के मूल्य पर वेदों के आप्तत्व की रक्षा कर पाये हों, संदिग्ध जान पड़ता है। सांख्य दर्शन में वैदिक वचनों तथा वैदिक उपायों द्वारा आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति हेतु असमर्थता व्यक्त की गई है।[8] इसी प्रकार शंकराचार्य आदि सिद्धान्ततः यह स्वीकार करते हैं कि कर्मकाण्डपरक वैदिक मंत्रों की सार्थकता केवल अज्ञानी एवं कर्मवादी मनुष्यों के लिए ही है, ज्ञान-मार्गी मुमुक्षु के लिए नहीं[9]। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि वेद को प्रमाण मानना अथवा न मानना विभिन्न दर्शनों के वर्गीकरण का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है।

पं० दलसुख मालवणिया का विचार है कि भारतीय दर्शन की वैदिक परम्परा यज्ञ-क्रिया के चारों ओर चक्कर काटती जान पड़ती है तथा वह देवों के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाती है, जिसका यह परिणाम हुआ कि दार्शनिक विकास-क्रम में मीमांसक विचारधारा का जन्म हुआ जो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना करती हुई देवों के स्थान पर अदृष्ट कर्म को महत्त्व देती है।[10] पं० मालवणिया जी के अनुसार जैन परम्परा प्राचीन काल से ही देववाद का विरोध करती आई है तथा कर्मवाद का

---

१. छान्दोग्योपनिषद्, ३.१४.१; बृहदारण्यक, २/५/१६, ४/४/५, ४/५/६

२. कठोपनिषद्, १/२/२३; केनोपनिषद्, १/४/६; प्रश्नोपनिषद्, ३/३

३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १/३; ईशावास्योपनिषद्, १

४. "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।" श्वेताश्व०, १/२

५. उमेश मिश्र : भारतीय दर्शन, पृ० १७

६. "बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा।
जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो।", षड्दर्शनसमुच्चय, ३; सम्पा० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७०

७. "द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः, पारलौकिकः",
"श्रुतिर्वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता।" यशस्तिलक चम्पू, पृ० २७३, ७८

८. सांख्य दर्शन, ८,९; सांख्यकारिका, २ पर गौडपादभाष्य

९. "अथेतरस्यानात्मज्ञतयात्मग्रहणाशक्तस्येदमुदिशति मन्त्रः।"
'पूर्वेण मन्त्रेण ससन्न्यासज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदशक्तस्य
कर्मनिष्ठतेत्युच्यते।" ईशावास्योपनिषद्, २ पर शांकरभाष्य

१०. दलसुख मालवणिया : आत्ममीमांसा, बनारस, १९५३, पृ० ८२-८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्थन करती है। कर्मवादी इस जैन मान्यता के अनुसार सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। वे यह भी मानते हैं कि उपनिषदों में भी कर्मवाद को स्वीकार करते हुए संसारी जीव के जिस अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, वह जैन मान्यता का ही प्रभाव है—"जैन परम्परा का प्राचीन नाम कुछ भी हो, किन्तु यह बात निश्चित है कि वह उपनिषदों से स्वतंत्र और प्राचीन है अतः यह मानना निराधार है कि उपनिषदों में प्रस्फुटित होने वाले कर्मवाद-विषयक नवीन विचार जैन-सम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं। जो वैदिक परम्परा देवों के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ती थी, वह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को हस्तगत कर यह मानने लगी कि फल देने की शक्ति देवों में नहीं, प्रत्युत स्वयं यज्ञ-कर्म में है।"[1] मालवणिया जी के ये विचार भी उल्लेखनीय हैं कि "उपनिषदों से पहले जिस कर्मवाद के सिद्धान्त को वैदिक देववाद से विकसित नहीं किया जा सका, उस कर्मवाद का मूल (भारत के) आदिवासियों की पूर्वोक्त मान्यता से सरलतया संबद्ध है।"[2] पूर्वोक्त मान्यता यह रही है कि आदिवासी यह मानते थे कि मनुष्य का जीव मरकर वनस्पति आदि के रूप में जन्म लेता है तथा आदिवासियों की इस विचारधारा को अन्धविश्वास नहीं माना जा सकता।[3] अभिप्राय यह है कि मालवणिया जी कर्मवाद के मूल सिद्धान्त को आदिवासियों की दार्शनिक मान्यता बता रहे हैं तथा जैन धर्म-सम्मत जीववाद और कर्मवाद के साथ उसकी परम्परागत संगति बैठाने का प्रयास कर रहे हैं।

पं० मालवणिया जी की उपर्युक्त मान्यता की गम्भीरता से समीक्षा की जाए तो यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि ऋग्वेद के काल में ही भारतीय आर्य यज्ञानुष्ठान की जिस प्रक्रिया को अपना चुके थे, उसके पीछे कर्मवाद का मनोविज्ञान कार्य कर रहा था। ऋग्वेद के प्राचीनतम माने जाने वाले मण्डलों में ही 'कर्मवाद' के महत्त्व को स्वाकार किया गया है।[4] पूर्व जन्म के पाप-कर्मों से छुटकारा मिलने के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई है।[5] संचित तथा प्रारब्ध कर्मों का वर्णन भी ऋग्वेद में उपलब्ध होता है।[6] वामदेव ने अपने अनेक पूर्व जन्मों का भी वर्णन किया है।[7] अच्छे कर्मों द्वारा देवयान[8] से ब्रह्मलोक जाने की तथा साधारण कर्मों द्वारा पितृयान[9] मार्ग से जाने की मान्यता भी ऋग्वेद-काल में प्रचलित हो चुकी थी। पूर्व जन्मों के निम्न कर्मों के भोग के लिए ही जीव वृक्ष, लता आदि स्थावर शरीर में प्रवेश करता है, जैसी मान्यता से भी ऋग्वेद का ऋषि परिचित है।[10] एक जीव दूसरे जीव के द्वारा किए गए कर्मों का भोग कर सकता है, यह मान्यता भी ऋग्वेद में उपलब्ध होती है जिससे बचने के लिए **मा वो भुजेमान्यजातमेनो,**[11] **मा व एनो अन्यकृतं भुजेम**[12] आदि मंत्रों का ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख आया है। इस प्रकार यह कहना अयुक्तिसंगत होगा कि वैदिक मान्यता के अनुसार 'कर्मवाद' को अस्वीकार किया गया है। जहां तक प्रश्न इस तथ्य का है कि उपनिषद्-काल में जैन परम्परा के प्रभाव से वैदिक दर्शन प्रभावित हुआ था, या फिर आर्यों ने भारत के मूल आदि-वासियों से 'कर्मवाद' को ग्रहण किया, विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक छान-बीन की समस्या है। अभी तक के उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि वस्तुतः कर्मवाद आर्यों की निजी मान्यता नहीं थी तथा किसी अन्य सभ्यता से ही उन्होंने इसे ग्रहण किया था।

भारतीय दर्शन का परवर्ती विकास

अस्तु, वैदिक दर्शन के उपनिषद्-काल तक के विकास की चाहे जिस किसी भी मान्यता का समर्थन किया जाए, कतिपय दार्शनिक मान्यताएं भगवान् बुद्ध तथा महावीर के काल तक एक निश्चित वाद के रूप में पल्लवित हो चुकी थीं। बौद्ध दार्शनिकों ने न तो वैदिक शाश्वत-वादियों का ही समर्थन किया है और न ही उच्छेदवादियों को प्रश्रय दिया है। उनके अनुसार पुद्गल को ही कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार किया गया है जिसे 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि प्रदान करता है अर्थात् एक नाम-रूप से दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। दूसरा नाम-

---

१. दलसुख मालवणिया : आत्ममीमांसा, पृ० ८१-८२
२. वही, पृ० ८१
३. वही, पृ० ८१
४. ऋग्वेद, ३/३८/२; ३/५५/१५, ४/२६/२७, ६/५१/७, ७/१०१/६
५. ऋग्वेद, ६/२/११
६. "इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृतस्तक्षत द्याम्।" ऋग्वेद, ३/३८/२
"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥" ऋग्वेद, १/१६४/२०
७. ऋग्वेद, ४/२६, ४/२७
८. "अस्यमध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः।" ऋग्वेद, ७/३८/८
९. "पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणं द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि ॥" ऋग्वेद, १०/२/७
१०. ऋग्वेद, ७/९/३, ७/१०१/६, ७/१०/२
११. "मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे।", ऋग्वेद, ७/५२/२
१२. "मा व एनो अन्यकृतं भुजेम मा तत् कर्म वसवो यच्चयध्वे।" ऋग्वेद, ६/५१/७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप पहले द्वारा किए गए कर्मों को भोगता है।[1] बुद्ध ने इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "आज से पहले ९१वें कल्प में मैंने एक मनुष्य का वध किया था, उसी कर्म के विपाक के कारण आज मेरा पांव घायल हुआ",[2] परन्तु भगवान बुद्ध ने पुद्गल के कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व रूप कार्यकारण-सम्बन्ध से कर्मवाद को जोड़ा है, न कि पूर्वजन्म तथा वर्त्तमान जन्म की आत्मा के सातत्य को सिद्ध करने की दृष्टि से। जैन दृष्टि के अनुसार अनेकान्तवादी दृष्टि को स्वीकार करते हुए काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, पुरुषार्थ आदि में से किसी एक को नहीं, बल्कि सभी को गौण-मुख्य भाव से सृष्टि के लिए कारण-स्वरूप माना गया है।[3] जैन सिद्धान्तानुसार, कर्म की कारणता केवल आध्यात्मिक सृष्टि में लागू मानी जाती है, जड़ सृष्टि में नहीं। जड़ वस्तुओं की सृष्टि स्वयमेव होती है।[4] इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्रारम्भिकावस्था में पूर्व-काल से चले आ रहे वैदिक पुरुषवाद की अवधारणा औपनिषदिक युग में ब्रह्मवाद के रूप में अवतरित हुई जो जड़ और चेतन, स्थावर एवं जंगम सभी की उत्पत्ति किसी चेतन तत्त्व द्वारा स्वीकार करती है, जबकि जैन परम्परा किंचित् प्रकारान्तर से सृष्टि की सर्जन-प्रक्रिया का प्रतिपादन करती हुई 'कर्म' द्वारा आध्यात्मिक सृष्टि मानती है और जड़ वस्तुओं को स्वयमेव उत्पन्न स्वीकारा गया है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि बौद्ध-सम्मत सृष्टि 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्तानुसार होती है। इन प्रमुख वादों के अतिरिक्त भी बौद्ध काल में अनेक वाद प्रचलित थे जिनमें पूरणकाश्यप का अक्रियावाद, मंखली गोशालक का नियतिवाद जैन मतावलम्बियों से भी कुछ-कुछ मिलता-जुलता था तथा वर्द्धमान महावीर के साथ भी इनका सम्पर्क हुआ था। कालवादी, स्वभाववादी, यदृच्छावादी तथा भूतवादी भी अत्यन्त प्राचीन काल में अपनी-अपनी सृष्टि-विषयक मान्यताएं स्थापित कर चुके थे। इन्हीं वादों के मूल से कालान्तर में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हुए।

उपनिषद्-काल के बाद भारतीय दर्शन अपने-अपने वादों के अनुरूप व्यवस्थित होने लगे थे। वैदिक परम्परा के आधार पर वेदान्त दर्शन की अवतारणा हुई तो दूसरी ओर परिणामवादी सांख्य विचारधारा 'अद्वैत' के स्थान पर 'द्वैत' के रूप में परिणत हुई। सांख्यों के परिणाम की प्रतिक्रिया में न्याय एवं वैशेषिक दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार बौद्ध दर्शनों की भी अनेक शाखाओं के दार्शनिक सिद्धान्त अस्तित्व में आये। इसी प्रक्रिया में जैन दर्शन की मान्यताएं भी एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में पल्लवित हुईं। दार्शनिक स्थिरीकरण की इस अवस्था में बौद्ध तार्किक नागार्जुन, वसुबन्धु और दिङ्नाग की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिन्होंने न केवल बौद्ध दर्शन को, अपितु समग्र भारतीय दर्शन को तर्क-प्रधान प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किया। नागार्जुन ने शून्यवाद की स्थापना से अन्य सभी दार्शनिकों के समक्ष अनेक चुनौतियां प्रस्तुत कीं। असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद की स्थापना कर भारतीय दर्शन में प्रमाणशास्त्रीय दर्शन की नींव रखी। बौद्ध दार्शनिकों की मान्यताओं का विरोध करने के लिए जहां एक ओर नैयायिक वात्स्यायन आगे आये, वहां दूसरी ओर मीमांसक शबर ने भी बौद्ध दार्शनिकों के मतों को निरस्त करने की चेष्टा की। सांख्याचार्य भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों की रक्षा हेतु अनेक प्रयत्न किए। जैन दार्शनिक इन सभी मतों का तटस्थ रूप से अवलोकन कर रहे थे। उन्होंने स्थिति की अनिश्चितता तथा मत-विभिन्नता को अनेकान्तवाद के दार्शनिक सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। जैन दार्शनिकों का सद्प्रयोजन यह था कि वे विवादों की कटुता से खिन्न दार्शनिक जगत् को एक निश्चित तथा सर्वसम्मत दिशा की ओर उन्मुख कर सकें। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक सिद्धसेन ने इस ओर विशेष योगदान दिया। मालवणिया जी के शब्दों में, "उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को नयवादों में सन्निविष्ट किया। अद्वैतवादियों की दृष्टि को उन्होंने जैन सम्मत 'संग्रह' नय कहा। क्षणिकवादी बौद्धों का समावेश 'ऋजुसूत्र' नय में किया। सांख्य दृष्टि का समावेश 'द्रव्यार्थिक' नय में किया। कणाद के दर्शन का समावेश 'द्रव्यार्थिक' और 'पर्यायार्थिक' में कर दिया।"[5] सिद्धसेन का मुख्य तर्क यह था कि संसार में जितने भी दर्शन-भेद सम्भव हैं उन्हें जैनानुसारी विभिन्न नयों के माध्यम से अनेकान्तवाद द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। समन्तभद्र ने भी उन्हीं की तरह एकान्तवादी आग्रह को दोषपूर्ण बताकर स्याद्वाद की सप्त भंगियों के दार्शनिक रूप की पुष्टि की।[6] भारतीय दर्शन के सैद्धान्तिक विकास की इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हम जैन महाकाव्यों से पूर्व की जैन दार्शनिक परम्परा का मूल्यांकन कर सकते हैं।

जैन महाकाव्यों के युग की दार्शनिक स्थिति

जैन संस्कृत महाकाव्यों का युग एक ऐसा विप्लवकारी युग रहा था जिसमें राजनैतिक अराजकता की पृष्ठभूमि के कारण धर्म-दर्शन तथा बौद्धिक चिन्तन की गतिविधियां भी नये मूल्यों से अनुस्यूत रहीं थीं।[7] इसी युग में जैन धर्म तथा दर्शन की परिस्थितियों ने भी

---

१. संयुत्तनिकाय, १२/१७, १२/२४; विसुद्धिमग्ग, १७/१६८-६४
२. दलसुख मालवणिया : आत्ममीमांसा, पृ० ५६ में उद्धृत कारिका
३. शास्त्रवार्त्ता, २/७६-८०
४. दलसुख मालवणिया : आत्ममीमांसा, पृ० ११६-१७
५. दलसुख मालवणिया : आगम युग का जैन दर्शन, आगरा, १९६६, पृ० २८६
६. वही, पृ० २८७
७. मोहनचन्द : संस्कृत जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित सामाजिक परिस्थितियां (शोध-प्रबन्ध, दिल्ली-विश्वविद्यालय) १९७६, पृ० ३५४-४१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नया मोड़ ले लिया था। रविषेण-कृत पद्मचरित (७वीं शती ई०) तथा उसके बाद निर्मित होने वाले आदिपुराण आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि जैनाचार्य जैन धर्म को एक ऐसे उदार एवं लोकप्रिय धर्म का रूप देना चाहते थे जिससे वैदिक संस्कृति के मूल पर आधारित हिन्दू धर्म के साथ सौहार्द उत्पन्न किया जा सके और जैन धर्म के मौलिक तत्त्वों पर भी कोई आंच न आ सके। इस ओर सर्वप्रथम कार्य यह हुआ कि प्राकृत की ओर से ध्यान हटाकर संस्कृत भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम चुना गया। रविषेण के पद्मचरित एवं उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को छोड़कर इससे पूर्व का लगभग समग्र साहित्य प्राकृत में ही लिखा गया था, परन्तु आलोच्य युग में अधिकांश धार्मिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं। इतना ही नहीं, जैनाचार्यों ने ब्राह्मण संस्कृति की समाज-व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था आदि से सम्बद्ध अनेक मान्यताओं, रीति-रिवाजों आदि को ग्रहण करने में कोई अनौचित्य नहीं देखा। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक धर्म का परिवर्तित रूप इस युग में जिस भागवत धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ, उसकी सर्वाधिक विशेषता यह रही थी कि प्राचीन समय में सम्पन्न होने वाले बलि-प्रधान यज्ञों के स्थान पर अब फल-पुष्प-तोय की विधा से पूजा-पद्धति का प्रचलन बढ़ गया। निश्चित रूप से जैन धर्म की अहिंसामूलक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही एक सहज और पवित्र पूजा-पद्धति हिन्दू धर्म में भी प्रचलित हुई। ब्राह्मण संस्कृति तथा जैन संस्कृति के इस पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति के कारण दार्शनिक जगत् में होने वाली कटुता में भी पर्याप्त कमी आई। द्विसन्धान महाकाव्य के लेखक धनंजय ने जैन दर्शन की द्रव्य-परिभाषा के औचित्य की पुष्टि त्रिपुरुष—ब्रह्मा-विष्णु-महेश—के सन्दर्भ में की है।[1] आठवीं शती ई० के जटासिंह नन्दी ने वैदिक यज्ञानुष्ठानों, पुरोहितवाद, ईश्वरवाद आदि सृष्टि-विषयक अनेक मतों की आलोचना करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि पुरुष, ईश्वर, काल, स्वभाव, दैव, ग्रह, नियोग, नियति आदि से संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय नहीं होती।[2] उक्त सभी मत आंशिक दृष्टिकोण को लिये हुए हैं। उनमें अनेकान्तवाद की योजना से ही सार्थकता बैठाई जा सकती है।

जैन दर्शन के विकास की दृष्टि से संस्कृत जैन महाकाव्यों का युग 'प्रमाण व्यवस्था' का युग रहा था। आगम प्रधान दर्शन को तथ्य-संग्राहक एवं तर्कानुप्राणित शैली में उपस्थापित करने का काम इसी युग में हुआ। हरिभद्र सूरि द्वारा षड्दर्शन समुच्चय की रचना कर दिए जाने के बाद जैन दार्शनिकों के समक्ष भारतीय दर्शन का जैनानुसारी संस्करण भी तैयार हो चुका था। जैन संस्कृत महाकाव्यों के लेखक भी दार्शनिक क्षेत्र में उतर आये तथा युग की परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने वाद-प्रतिवाद की परम्परा में अपना भी योगदान दिया। जैन महाकाव्यों में कथानक-योजना के अन्तर्गत ही कुछ ऐसे विशेष सर्ग केवल दार्शनिक विवेचन के लिए ही लिखे गए हैं, जिनमें प्रायः किसी जैन मुनि के द्वारा उपदेश देते हुए अथवा राजा की मंत्रिपरिषद् में विभिन्न राजपार्षदों के माध्यम से जैनेतर दार्शनिक वादों की चर्चा उपस्थित की गई है। वरांगचरित[3] (आठवीं शती ई०), चन्द्रप्रभचरित[4] (१०वीं शती ई०) तथा पद्मानन्द महाकाव्य[5] (१३वीं शती ई०) आदि महाकाव्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं कि इनमें आई दार्शनिक चर्चा अत्यन्त विस्तृत एवं सुव्यवस्थित है। वरांगचरितकार ने वैदिक धर्म-दर्शन एवं सांख्य मतों की आलोचना में अधिक रुचि ली है, जबकि चन्द्रप्रभचरित में बौद्ध एवं चार्वाक दर्शनों के खण्डन को विशेष महत्त्व दिया गया है। पद्मानन्द-महाकाव्य भी बौद्धों तथा तत्कालीन सभी लोकायत मतों का विस्तृत विवेचन करता हुआ उनकी आलोचना करता है। जयन्तविजय,[6] जैन कुमारसंभव[7] आदि महाकाव्यों में भी अनेक आस्तिक दर्शनों की आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि जिनसेन के आदिपुराण में भी अनेक दार्शनिक वादों के खण्डन का वर्णन मिलता है।[8] जैन महाकाव्यों में उपलब्ध दार्शनिक मतों की सामाजिक लोकप्रियता की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो ऐसा लगता है कि दसवीं शती ई० तथा उसके उपरान्त लोकायत दर्शन समाज में लोकप्रिय होते जा रहे थे। जैन महाकाव्यों में दिए गए इन दर्शनों के प्रतिनिधि-तर्कों की सबलता उत्तरोत्तर वृद्धि पर थी। षड्-दर्शनसम्मुचय के टीकाकार गुणरत्न सूरि ने लोकायत साधुओं का भी उल्लेख किया है। ये साधु कापालिकों की भांति शरीर में भस्म

---

१. "स्तुवे साधुं साधु स्थितिजननिरोधव्यतिकरं
सदा पश्यत्प्राहुस्त्रितयमिदमेव त्रिपुरुषम् ॥" द्विसन्धान, १२/५० तथा तुलनीय
"त्रिपुरुषं हरिहरहिरण्यगर्भम्, किं कुर्वत् ? पश्यत् अवलोकमानम्, कम् ?
स्थितिजननिरोधव्यतिकरम्, स्थितिः ध्रौव्यम्, जन उत्पादः, निरोधो व्ययः ।", नेमिचन्द्रकृत पदकौमुदी टीका।

२. वरांगचरित (सर्ग २४-२५), माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९३८

३. वही

४. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९७१

५. गायकवाड ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा, १९३२

६. काव्यमाला, ग्रन्थांक ७५, निर्णयसागर, बम्बई, १९०२

७. जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९४६

८. आदिपुराण (सर्ग ५, १८, २१), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६३-६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगाते थे तथा जाति-प्रथा के विरुद्ध थे।[1] चार्वाकों का एक वर्ग 'आकाश' को पांचवां तत्त्व स्वीकार करता था।[2] शराब पीना, मांस खाना, तथा अगम्या स्त्री से भी व्यभिचार करने में ये नहीं चूकते थे।[3] चार्वाक मतानुयायियों की तत्कालीन गतिविधियों का उल्लेख करते हुए गुणरत्न ने यह भी सूचित किया है कि ये लोग वर्ष में एक बार सामूहिक रूप से एकत्र होकर जिस पुरुष का नाम जिस स्त्री के साथ निकल आये उसी क्रम में स्वच्छन्द रूप से रमण करते थे।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि सामन्तवादी भोग-विलास एवं ऐश्वर्य-सुख का उपभोग करने वाली मनोवृत्ति समाज में एक प्रभावशाली स्थान बना चुकी थी। जैन संस्कृत महाकाव्यों में इसी मनोवृत्ति को लोकायत जीवन-दर्शन के रूप में चित्रित किया गया है। लगभग सभी जैन महाकाव्यों में इस मनोवृत्ति का किसी न किसी रूप से अंकन हुआ है। चार्वाक दर्शन के रूप में जो मान्यताएं प्राचीन परम्परा से प्राप्त थीं, उनके ही विकसित रूप में जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित मायावादी एवं तत्त्वोपप्लववादी लोकायत दर्शनों का सृजन अभी हो रहा था। इन साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर आज इस मान्यता पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता आ पड़ी है जिसके अनुसार प्रायः यह स्वीकार कर लिया जाता है कि चार्वाक-आदि नास्तिक दर्शन कालान्तर में दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में लुप्त हो चुके थे तथा आज केवल उनका ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रह चुका है।

आस्तिक परम्परा वाले दर्शनों के सृष्टिवादपरक विकास की दृष्टि से भी जैन महाकाव्यों में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य संग्रहीत हैं। कालवाद-स्वभाववाद आदि प्राचीन वादों के तात्कालिक स्वरूप का निरूपण इन महाकाव्यों में तो हुआ ही है, इसके अतिरिक्त 'अज्ञानवाद'[5], 'वैनयिकवाद'[6] की चर्चा भी गुणरत्न की टीका में उपलब्ध होती है। मध्यकाल में पौराणिक देव-विज्ञान के विकास-स्वरूप सृष्टि-विषयक अनेक ऐसे वाद भी प्रचलित हो चुके थे जिनकी चर्चा षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में उपलब्ध है। गुणरत्न की इस टीका (१५वीं शती ई०) में शिव, विष्णु, ब्रह्मा में से किसी एक को सृष्टि का कारण बताने वाले वादियों के अतिरिक्त कुछ त्रिमूर्ति से तो कुछ विष्णु की नाभि के कमल से उत्पन्न, ब्रह्मा तथा उनसे जनित अदिति माताओं द्वारा भी सृष्टि-निर्माण होने का प्रतिपादन करते थे। इनके अतिरिक्त आश्रमी सृष्टि को अहेतुक, पूरण नियतिजन्य, पराशर परिणामजन्य, तुरुष्क गोस्वामी नामक दिव्य पुरुषजन्य कहते थे। गुणरत्न ने कुल मिलाकर लगभग २७ वादों का उल्लेख किया है जो विभिन्न धर्मों तथा दर्शनों के द्वारा समर्थित थे।[7] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित जैनेतर दार्शनिक वादों का भारतीय दर्शन के विकासपरक इतिहास की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रहा था।

जैन महाकाव्यों में प्रतिपादित विभिन्न जैनेतर दार्शनिक वाद

प्रस्तुत निबन्ध में जैन महाकाव्यों के युग में प्रचलित विविध जैनेतर वादों के दार्शनिक स्वरूप तथा महाकाव्यों के लेखक जैनाचार्यों द्वारा उनके सम्बन्ध में उठाई गई दार्शनिक आपत्तियों का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है—

१. **कालवाद**—कालवादियों के अनुसार समस्त जगत् काल-कृत है। काल के नियमानुसार ही चम्पा, अशोक, आम आदि वनस्पतियों में फूल तथा फल आते हैं और ऋतु-विभाग से ही शीत-प्रपात, नक्षत्र-संचार, गर्भाधान आदि संभव होते हैं।[8] जटाचार्य ने काल-वादियों का यह कहकर खण्डन किया है कि वनस्पतियों आदि में असमय में भी फल-फल आदि लगते हैं तथा मनुष्यों आदि की अकाल-मृत्यु

---

१. "कापालिका भस्मोद्धूलनपरा योगिनो ब्राह्मणाद्यन्त्यजाश्च केचन नास्तिका भवन्ति। ते च जीवपुण्यपापादिकं न मन्यन्ते। चतुर्भूतात्मकं जगदाचक्षते।" षड्दर्शनसमुच्चय, ७९ पर गुणरत्न-टीका (ज्ञानपीठ-संस्करण), पृ० ४५०

२. "केचित्तु चार्वाकैकदेशीया आकाशं पञ्चमं भूतमभिमन्यमानाः पञ्चभूतात्मकं जगदिति निगदन्ति।" वही, पृ० ४५०

३. "ते च मद्यमांसे भुञ्जते मात्राद्यगम्यागमनमपि कुर्वते।" वही, पृ० ४५१

४. "वर्षे-वर्षे कस्मिन्नपि दिवसे सर्वे संभूय यथानामनिर्गमं स्त्रीभि रमन्ते।" वही, पृ० ४५१

५. "ततः को जानाति जीवः सन्" इत्येको विकल्पः, न कश्चिदपि जानाति तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति भावः। ज्ञातेन वा किं तेन प्रयोजनम् ज्ञानस्याभिनिवेशहेतुतया परलोकप्रतिपन्थित्वात्।", षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न की टीका, पृ० २८-२९

६. "तथा विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः, वसिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतयः" वही, पृ० २९

७. तुलनीय—"अथवा लोकस्वरूपेऽप्यनेके वादिनोऽनेकधा विप्रवदन्ते। तद्यथा—केचिन्नारीश्वरजं जगन्निगदन्ति। परे सोमाग्निसंभवम्। वैशेषिका द्रव्यगुणादिषड्-विकल्पम्। केचित्काश्यपकृतम्। परे दक्षप्रजापतीयम्। केचिद् ब्रह्मादित्रयैकमूर्तिसृष्टम्। वैष्णवा विष्णुमयम्। पौराणिका विष्णुनाभि पद्मजब्रह्मजनितमातृजम्। ते एव केचिदवर्णं ब्रह्मणा वर्णादिभिः सृष्टम्। केचित्कालकृतम्। परे क्षित्याद्यष्टमूर्त्तीश्वरकृतम्। ब्रह्मणो मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिजन्मकम्। सांख्याः प्रकृतिप्रभवम्। शाक्यविज्ञप्तिमात्रम्। अन्य एकजीवात्मकम्। केचिदनेकजीवात्मकम्। परे पुरातनकर्मकृतम्। अन्ये स्वभावजम्। केचिदक्षरजातभूतोद्भूतम्। केचिदण्डप्रभवम्। आश्रमी त्वहेतुकम्। पूरणो नियतिजनितम्। पराशरः परिणामप्रभवम्। केचिद्यादृच्छिकम्। नैकवादिनोऽनेकस्वरूपम्। तुरुष्का गोस्वामिनामकदिव्यपुरुषप्रभवम्। इत्यादयोऽनेके वादिनो विद्यन्ते।" षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न की टीका, पृ० ३०-३१

८. "कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव जगत्सर्वं मन्यन्ते। तथा च ते प्राहुः—न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रचारगर्भाधानवर्षादयो...घटन्ते।" वही, पृ० १५-१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी देखी जाती है।[1] वर्षा ऋतु के न होने पर भी धारासार वृष्टि होती है अतएव काल के कारण संसार को सुखी एवं दुःखी मानना अनुचित है।[2] काल को सृष्टि का कारण मानने से कर्त्ता का कर्तृत्व गुण विफल हो जाता है।[3]

२. **नियतिवाद**—नियति से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं अर्थात् जो जिस समय जिससे उत्पन्न होता है वह उससे नियत रूप में ही उत्पत्ति-लाभ करता है।[4] जटासिंह नन्दी ने इस वाद का खण्डन करते हुए कहा है कि इस वाद के मान लेने पर कर्मों के अस्तित्व तथा तदनुसार फल प्राप्त होने में व्यवधान उत्पन्न होगा। कृतकर्मों के अभाव से व्यक्ति सुख-दुःखहीन हो जाएगा। सुख से हीन होना किसी भी जीव को अभीष्ट नहीं है।[5]

३. **स्वभाववाद**—स्वभाववादियों के अनुसार वस्तुओं का स्वतः परिणत होना स्वभाव है। उदाहरणार्थ, मिट्टी से घड़ा ही बनता है, कपड़ा नहीं। सूत से कपड़ा ही बनता है, घड़ा नहीं। इसी प्रकार यह जगत् भी अपने स्वभाव से स्वयं उत्पन्न होता है।[6] जटासिंह नन्दी ने इस बाद पर आपत्ति उठाते हुए कहा है कि स्वभाव को ही कारण मान लेने पर कर्त्ता के समस्त शुभ तथा अशुभ कर्मों का औचित्य समाप्त हो जाएगा। जीव जिन कर्मों को नहीं करेगा, स्वभाववाद के अनुसार उनका फल भी उसे भोगना पड़ेगा।[7] इन्धन से अग्नि का प्रकट होना उसका स्वभाव है परन्तु इन्धन के ढेर-मात्र से अग्नि की उत्पत्ति असंभव है। इसी प्रकार स्वर्णमिश्रित मिट्टी या कच्ची धातु से स्वतः ही सोना उत्पन्न नहीं हो जाता।[8] जटाचार्य के अनुसार स्वभाववाद मनुष्य के पुरुषार्थ को निष्फल सिद्ध कर देता है, जो अनुचित है।

४. **यदृच्छावाद**—यह वाद भी प्राचीन काल से चला आ रहा वाद है। महाभारत में इसके अनुयायियों को अहेतुवादी कहा गया है। गुणरत्न के अनुसार बिना संकल्प के ही अर्थ-प्राप्ति होना अथवा जिसका विचार ही न किया उसकी अतर्कित उपस्थिति होना यदृच्छावाद है। यदृच्छावादी पदार्थों की उत्पत्ति में किसी नियत कार्य-कारण-भाव को स्वीकार नहीं करते। यदृच्छा से कोई भी पदार्थ जिस किसी से भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ कमलकन्द से ही कमलकन्द उत्पन्न नहीं होता, गोबर से भी कमलकन्द उत्पन्न होता है। अग्नि की उत्पत्ति अग्नि से ही नहीं, अपितु अरणि-मन्थन से भी संभव है।[9] इस वाद को कभी स्वभाववाद अथवा नियतिवाद से अभिन्न माना जाता है। वरांगचरितकार जटासिंह ने इस वाद की चर्चा नहीं की है। अन्य महाकाव्यों में भी इसके खण्डन का उल्लेख नहीं है।

५. **सत्कार्यवाद**—सांख्यदर्शनानुसारी सत्कार्यवाद के अनुसार यह स्वीकार किया जाता है कि जैसा कारण होता है उससे वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है।[10] सांख्य दर्शन के इस वाद के सन्दर्भ में जटासिंह नन्दी का आक्षेप है कि अव्यक्त प्रकृति से संसार के समस्त व्यक्त एवं मूर्तिमान पदार्थ कैसे उत्पन्न हो सकेंगे?[11] सांख्यों के अनुसार जीव को जो 'अकर्त्ता' कहा गया है वह भी अनुचित है। वीर नन्दी कृत चन्द्रप्रभचरित में इसका खण्डन करते हुए कहा गया है कि जीव को अकर्त्ता मान लेने पर उस पर कर्म-बन्ध का भी अभाव रहेगा तथा

---

१. "अथजीवगणेष्वकालमृत्युः फलपुष्पाणि वनस्पतिष्वकाले।
भुजगा दशनैर्दशन्त्यकाले मनुजास्तु प्रसवन्त्यकालतश्च ॥" वरांगचरित, २४/२९

२. "अथ वृष्टिरकालतस्तु दृष्टा न हि वृष्टिः परिदृश्यते स्वकाले।
तत एव हि कालतः प्रजानां सुखदुःखात्मकमित्यभाषणीयम् ॥" वरांगचरित २४/३०

३. "यदि कालबलात्प्रजायते चेद्विबलः कर्तृगुणः परीक्ष्यमाणः।" वरांगचरित, २४/२८

४. "नियतिर्नाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्वशादेते भावाः सर्वेऽपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमश्नुवते नान्यथा।" षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न-टीका, पृ० १८

५. "नियतिर्नियता नरस्य यस्य प्रतिभग्नस्थितिकर्मणामभावः।
प्रतिकर्मविनाशनात्सुखी स्यात्सुखहीनत्वमनिष्टमाप्तग्राह्यम् ॥" वरांगचरित, २४/४१

६. स्वभाववादिनो ह्येवमाहुः—इह वस्तुनः स्वत एव परिणतिः स्वभावः सर्वे भावाः स्वभाववशादुपजायन्ते। तथाहि—मृदः कुम्भो भवति न पटादिः, तन्तुभ्योऽपि पट उपजायते न घटादिः।" षड्दर्शन०, १ पर गुणरत्न-टीका, पृ० १९

७. "अथ सर्वमिदं स्वभावतश्चेन्ननु वैयर्थ्यमुपैति कर्मकर्तुः।
अकृतागमदोषदर्शनं च तदवश्यं विदुषामचिन्तनीयम् ॥" वरांगचरित, २४/३८

८. "स्वयमेव न भाति दर्पणः सम वह्निः स्वमुपैति काष्ठभारः।
न हि धातुरुपैति काञ्चनत्वं न हि दुग्धं घृतभावमभ्युपैत्यबीनाम् ॥" वरांगचरित, २३/३९

९. "ते ह्येवमाहुः—न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात्। तथाहि—शालूकादपि जायते शालूको गोमयादपि जायते शालूकः। वह्नेरपि जायते वह्निररणिकाष्ठादपि।" षड्दर्शनसमुच्चय, १ पर गुणरत्न-टीका, पृ० २३

१०. "असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥" सांख्यकारिका, ९

११. "प्रकृतिर्महदादि भाव्यते चेत्कथमव्यक्ततमान्नु मूर्तिमत्स्यात्।
इह कारणतो नु कार्यमिष्टं किमु दृष्टान्तविरुद्धतां न याति ॥" वरांगचरित, २४/४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके पाप पुण्य भी नहीं हो सकेंगे। 'बन्ध' के न होने पर 'मोक्ष' भी संभव नहीं है।[1] चन्द्रप्रभचरित-कार का कहना है कि कापिल मत में आत्मा को भोक्ता कहकर उसे मुक्ति-क्रिया का कर्त्ता तो मान लिया गया है परन्तु उसके कर्तृत्व को छिपाने की चेष्टा भी की गई है जो अनुचित है।[2] वीरनन्दी के अनुसार प्रधान प्रकृति के बन्ध होने की जिस मान्यता का सांख्य समर्थन करता है, वह भी अयुक्तिसंगत है क्योंकि सांख्य दर्शन में प्रकृति अचेतन मानी गई है और अचेतन का न बन्ध हो सकता है और न मोक्ष[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जटासिंह नन्दी ने तथा वीर नन्दी ने सांख्य तन्त्र के परिप्रेक्ष्य में पुरुष तथा प्रकृति दोनों के बन्ध तथा मोक्ष की स्थिति को अयुक्तिसंगत सिद्ध किया है।

६. **शून्यवाद**—बौद्ध दार्शनिकों के एक सम्प्रदाय के अनुसार यह जगत् शून्य-स्वरूप है। अविद्या के कारण इसी शून्य से जगत् की उत्पत्ति मानी गई है। इस वाद पर आक्षेप करते हुए जटासिंह नन्दी का कहना है कि चल-अचल पदार्थों को शून्य की संज्ञा देने से न केवल पदार्थों का ही अभाव होगा, अपितु ज्ञान भी शून्य अर्थात् अभाव-स्वरूप हो जाएगा, जिसका अभिप्राय है संसार के समस्त जीवों को ज्ञानशून्य मानना। ऐसी स्थिति में शून्यवादी तत्त्वज्ञान को ग्रहण करने के प्रति भी असमर्थ रह जाएगा।[4] इस सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए जटाचार्य यह सुझाव देते हैं कि पदार्थों के किसी एक विशेष रूप में न रहने से उस पदार्थ को सर्वथा शून्य मानना अनुचित है, क्योंकि पदार्थ किसी एक रूप में नष्ट हो जाने के बाद भी सत्तावान् रहते ही हैं।[5]

७. **क्षणिकवाद**—बौद्धों के एक दूसरे सम्प्रदाय की इस मान्यता का, कि सभी भाव एवं पदार्थ क्षणिक हैं, खण्डन करते हुए जटासिंह नन्दी कहते हैं कि शुभ तथा अशुभ कर्मों का भेद तब समाप्त हो जायगा। संसार के प्राणी जो अनेक गुणों को धारण करने की चेष्टा करेंगे वे निराश ही रह जाएंगे क्योंकि तब गुण तथा गुणी भिन्न क्षणों में उदित होंगे।[6] पद्मानन्द महाकाव्य में भी क्षणिकवाद की आलोचना करते हुए कहा गया है कि समस्त संसार के ज्ञानादि भी बौद्ध मतानुसार क्षणिक मान लिये जाने पर स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि भाव; पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि सम्बन्ध तथा पाप-पुण्य आदि व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाएगी।[7] चित्त-सन्तान-ज्ञान की धारा को आत्मा सिद्ध करने की बौद्ध मान्यता का भी खण्डन किया गया है।[8]

८. **नैरात्म्यवाद**—बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध ने आत्मा का अस्तित्व नहीं स्वीकारा है। जटासिंह नन्दी के अनुसार तब भगवान् बुद्ध की करुणा का क्या होगा? क्योंकि आत्मा तथा चेतना के बिना करुणा कहां उत्पन्न होगी? इस प्रकार आत्मा का निराकरण करना स्वयं भगवान् बुद्ध के करुणाशील होने के प्रति ही सन्देह उत्पन्न करता है।[9]

९. **वैदिक एवं पौराणिक देववाद**—जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, वेदमूलक ब्राह्मण संस्कृति में पुरुष, ईश्वर द्वारा सृष्टि होने की मान्यता दार्शनिक वाद के रूप में पल्लवित हुई थी। जैसे-जैसे वैदिक धर्म पौराणिक धर्म के रूप में अवतरित हुआ, अनेक देवशक्तियों के साथ सृष्टि का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा। इसी विश्वास के कारण ब्राह्मण संस्कृति में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि आराध्य देव बन गए।

---

१. "न चाप्यकर्तृता तस्य बन्धाभावादिदोषतः।
कथं ह्यकुर्वन्बध्येत कुशलाकुशलक्रियाः॥" चन्द्रप्रभचरित, २/८१

२. "भुक्तिक्रियायाः कर्तृत्वं भोक्तात्मेति स्वयं वदन्।
तदेवापह्नुवानः सन्कि न जिह्रेति कापिलः॥" चन्द्रप्रभ०, २/८१

३. "अचेतनस्य बन्धादिः प्रधानस्याप्ययुक्तिकः।
तस्मादकर्तृता पापादपि पापीयसी मता॥" चन्द्रप्रभ०, २/८३

४. "यदि शून्यमिदं जगत्समस्तं ननु विज्ञप्तिरभावतामुपैति।
तदभावमुपागतोऽनभिज्ञो विमतिः केन स वेत्ति शून्यपक्षम्॥" वरांगचरित, २४/४४

५. "अथ सर्वपदार्थसंप्रयोगः सुपरीक्ष्य सदसत्प्रमाणभावान्।
न च संभवति ह्यसत्सुशून्यं परिदृष्टं विगमे सतो महद्भिः॥" वरांगचरित, २४/४५

६. "क्षणिका यदि यस्य सर्वभावा फलस्तस्य भवेदयं प्रयासः।
गुणिनां हि गुणेन च प्रयोगो न च शब्दार्थमवैति दुर्मतिः॥" वरांगचरित, २४/४६

७. पद्मानन्द, ३/१६०-६५
तुलनीय—"मन्त्रिन्! विमुञ्च क्षणिकत्ववादितां निरन्वयं वस्तु यदीह दृश्यते।" पद्मानन्द, ३/१६०

८. चन्द्रप्रभ०, २/८४-८५

९. "नैरात्म्यशून्यक्षणिकप्रवादाद् बुद्धस्य रत्नत्रयमेव नास्ति।" वरांगचरित, २५/८२
"मृषैव यत्नात्करुणाभिमानो न तस्य दृष्टा खलु सत्त्वसंज्ञा।" वरांगचरित, २५/८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवीं शताब्दी ई०में वरांगचरित-कार ने इन सभी देव-सम्बन्धी वादों का खण्डन किया है।[1] जटासिंह नन्दी ने वैदिक देवताओं तथा यज्ञानुष्ठानों के औचित्य को भी नकारा है।[2] इनके खण्डन का मुख्य तर्क यह रहा है कि कर्म-सिद्धान्त की मान्यता को उपर्युक्त वाद असिद्ध ठहरा देते हैं। एक दुष्ट व्यक्ति तथा एक विद्वान् व्यक्ति जब एक ही देवता की आराधना से उसकी कृपा का लाभ उठाता है तो निश्चित रूप से उस देवता का महत्त्व भी कम होता है।[3] अनेक दृष्टान्तों द्वारा जटासिंह ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी देवता सामान्य मनुष्य की भांति अनेक प्रकार की त्रुटियों को लिये हुए हैं। इसी प्रकार ज्योतिष्क ग्रहों एवं नक्षत्रों के मानव-जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव को भी जटासिंह उपेक्षा-भाव से देखते हैं।[4] उनके अनुसार बड़े से बड़े ग्रह तथा नक्षत्र स्वयं ही अपनी रक्षा नहीं कर सकते तो भला दूसरों का वे कितना उपकार कर सकेंगे?[5]

१०. **भूतवाद**—चार्वाक-अनुयायी भूतवादी कहलाते हैं। इनके अनुसार जीव अथवा आत्मा नामक कोई सत्ता नहीं है जो परलोक जा सके। शरीर के अतिरिक्त आत्मा जैसी वस्तु को प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। गुड़, अन्न, जल आदि के संयोग से जैसे कोई उन्मादिका शक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है वैसे ही भूतचतुष्टय—पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु के संयोग से देह-निर्माणात्मिका शक्ति स्वतः ही उत्पन्न होती है।[6] इस संसार के भोगों को छोड़कर जो पारलौकिक सुखों की ओर आकृष्ट होता है, वह हस्तगत फल को छोड़कर स्वप्नदृष्ट फल की स्पृहा कर रहा होता है।[7] पाप-कर्मों तथा पुण्य-कर्मों का भी कोई औचित्य नहीं।[8] भूतवादी पूछता है कि जिस पत्थर की लोग कपूर-धूप आदि से पूजा करते हैं, तो क्या उस पत्थर ने पहले कोई पुण्य किया था?[9] वैसे ही एक दूसरे पत्थर पर लोग मूत्रादि करते हैं, तो क्या उसने पहले कोई पाप किया था?[10] अपनी इस प्रकार की तत्त्वमीमांसा से भूतवादी सांसारिक भोग-विलासों को ही मानव-जीवन का लक्ष्य बताता है।[11]

आत्मा का निषेध करने वाले भूतवादियों की धारणाओं पर आक्षेप करते हुए कहा गया है कि ज्ञान-लक्षण-युक्त जीव शुभाशुभ कर्मों के कारण सुख एवं दुःख को भोगने के लिए संसार में जन्म लेता है।[12] जीव के पुनर्जन्म नहीं होने की मान्यता का खण्डन करते हुए कहा गया है कि नवजात शिशु पूर्वजन्म के संस्कारों से ही माता के स्तन-पान की ओर प्रवृत्त होता है।[13] भूत-चतुष्टय से जीवशक्ति की उत्पत्ति होने को असंगत ठहराते हुए अमरचन्द्र सूरि का कहना है कि खाना पकाते समय बर्तन में अग्नि, जल, वायु तथा पृथ्वी—इन चारों तत्त्वों का संयोग तो रहता ही है, फिर क्या कभी इस बर्तन में जीव की उत्पत्ति हुई?[14] संसार में रूप-वैचित्र्य तथा गुण-वैचित्र्य तथा सुखों और दुःखों की व्यक्तिपरक विभिन्नता यह सिद्ध करती है कि पूर्व-संचित शुभाशुभ कर्मों का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता ही है।[15]

११. **मायावाद**—पद्मानन्द महाकाव्य में निर्दिष्ट प्रस्तुत मायावाद शंकराचार्य के मायावाद से सर्वथा भिन्न है। मायावादी की यह मुख्य स्थापना है कि संसार में कुछ भी तात्त्विक नहीं है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् माया से आच्छादित है तथा स्वप्न एवं इन्द्रजाल की भांति

---

१. वरांगचरित, २४/२२-३५
२. वरांगचरित, २४/२४-२६
३. "पललोदन लाजपिष्ठपिण्डं परदत्तं प्रतिभुज्यते च येन।
स परानगतिं कथं बिभर्ति धनतृष्णां त्यज देवतस्तु तस्मात्॥" वरांगचरित, २४/२७; २४/२३-२४
४. "रविचन्द्रमसोः ग्रहपीडां परपोषत्वमथेन्द्रमन्त्रिणश्च।
विदुषां च दरिद्रतां समीक्ष्य मतिमान्कोऽभिलषेद् ग्रहप्रवादम्॥" वरांगचरित, २४/३६
५. वरांगचरित, २४/३२-३३
६. "संयोगवद्भ्यो गुडपिष्टधातकीतोयादिकेभ्यो मदशक्तिवद् ध्रुवम्।" पद्मा०, ३/१२३
७. "विहाय भोगानिहलोकसंगतान्, क्रियेत यत्नः परलोककांक्षया।
प्रत्यक्षपाणिस्थफलोज्झनादियं स्वप्नानुसंभाव्यफलस्पृहा हहा॥" पद्मा०, ३/१२१
८. "धर्मोऽप्यधर्मोऽपि न सौख्यदुःखयोर्हेतू विना जीवमिमौ खपुष्पवत्॥" पद्मा०, ३/१२४
९. "कर्पूरकृष्णागुरुधूपधूपनैः सम्पूज्यते पुण्यमकारि तेन किम्।" पद्मा०, ३/१२५
१०. "ग्रावणः परस्योपरि मानवव्रजैर्यस्य क्रमौ मूत्रपुरीशसूत्रणा।
यद् रच्यते चूर्णकृते च खण्ड्यते सन्दह्यते पापमकारि तेन किम्॥" पद्मा०, ३/१२६
११. "ताभिः सुखं खेलतु निर्भयं विभुर्मरालरोमावलितूलिकांगकः॥" पद्मा०, ३/१२९
"भोज्यानि भोज्यान्यमृतोपमानि च पेयानि पेयानि यथारुचि प्रभो!" पद्मा०, ३/१३०
१२. पद्मा०, ३/१३७-३९
१३. "तज्जातमात्रः कथमर्भको भृशं स्तने जनन्या वदनं निवेशयेत्?" पद्मा०, ३/१४४
१४. पद्मा०, ३/१४६-५१
१५. पद्मा०, ३/१५३-५५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अयथार्थ है।[1] संसार के सभी सम्बन्ध और पुण्य-पाप की व्यवस्था भी मिथ्या ही है।[2] मायावादी इस लोक में उपलब्ध सुखों से ही सन्तुष्ट रहने का उपदेश देते हैं तथा तपश्चर्या आदि द्वारा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति भ्रम मानते हैं।[3] दृष्टान्त द्वारा अपनी मान्यता को स्पष्ट करते हुए मायावादी कहता है कि एक शृगाल मुंह में मांस के टुकड़े को दबाते हुए नदी-जल में दिखाई देती हुई मछली को पाने के लिए लपका तथा मांस के टुकड़े को नदी-तट पर ही छोड़ आया। परन्तु मछली जल के अन्दर घुस गई और मांस का टुकड़ा भी गृध झपटा मारकर ले गया।[4]

मायावादी के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा गया है, संसार में वस्तु-सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है क्योंकि असत् वस्तु से कार्य-सम्पादन वैसे ही असम्भव है जैसे कि स्वप्नदृष्ट वस्तु से प्रयोजन-सिद्धि।[5] मायावाद के अनुसार इहलौकिक सुखों को पुरुषार्थ मानना और पारमार्थिक सुखों को हेय बताना उन्मत्तावस्था का द्योतक है।[6]

१२. **तत्त्वोपप्लववाद**—वीर नन्दी कृत चन्द्रप्रभचरित में इस वाद का 'नास्तिकागममाश्रित' के रूप में उल्लेख आया है।[7] तत्त्वोपप्लववादी चार्वाकों से भी एक कदम आगे थे। चार्वाक कम से कम चार भूतों तथा 'प्रत्यक्ष' प्रमाण को तो मानते थे, परन्तु तत्त्वोपप्लववादी इन सब पदार्थों को भी अस्वीकार कर देता है। जयराशि के 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में इस वाद की विशेष चर्चा आई है। तत्त्वोपप्लववादी जीव और अजीव की तात्त्विक स्थिति का ही अपलाप करते हैं, फलतः जीव के धर्म-अधर्म, बन्ध-मोक्ष आदि स्वयं ही बाधित हो जाते हैं।[8] चन्द्रप्रभचरित में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि बन्ध-मोक्ष आदि धर्म-धर्मी पर ही अवलम्बित हो सकते हैं, परन्तु जब जीव ही असिद्ध है तो उसके धर्मों की चर्चा करना व्यर्थ है।[9] तत्त्वोपप्लवादी की मान्यता है कि जीव-अजीव आदि तत्त्व पुरातन मनोवृत्ति के परिणाम-स्वरूप औचित्यहीन हो चुके हैं, ठीक वैसे ही जैसे पुराने वस्त्र की तह को खोलते समय वह जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, वैसे ही जीव-अजीव आदि तत्त्ववादियों की मान्यताएं भी विचारने पर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।[10]

तत्त्वोपप्लववादियों की उपर्युक्त मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहा गया है कि संसार के सभी प्राणियों को प्रत्यक्ष-अनुभव द्वारा सुख-दुःख का स्वसंवेदन यह सिद्ध करता है कि जीव की सत्ता होती है।[11] ज्ञान स्वसंवेदी नहीं, बल्कि इसको जानने के लिए किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता होती है—इस प्रमाण-सम्बन्धी अनवस्था-दोष की संभावनाओं का निराकरण करते हुए कहा गया है कि ज्ञान वेद्य एवं वेदक दोनों है।[12]

इस प्रकार जैन संस्कृत महाकाव्य के लेखकों ने भारतीय दर्शन की अनेक विवादपूर्ण मान्यताओं की युगानुसारी तर्क-शैली में पुनर्विवेचना की है। महाकाव्यकारों का मुख्य उद्देश्य यह रहा है कि वे जैन दर्शन की युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप विभिन्न जैनेतर वादों की स्याद्वादी पृष्ठभूमि में व्याख्या कर सकें। उन्होंने अनेक दर्शनों की मान्यताओं का यद्यपि खण्डन किया है, तथापि वे सिद्धान्ततः यह भी स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त वादों को विभिन्न नयों अथवा दृष्टियों के रूप में अनेकान्तवादी तर्क-पद्धति में स्थान दिया जा सकता है। जैन दार्शनिकों की अनेकान्तवादी एवं स्याद्वादी इसी चेतना के पीछे सत्यावबोध का वह आग्रह छिपा हुआ है जिसके अनुसार प्रत्येक वाद के मन्थन से ही सत्य के दर्शन होते हैं—**वादे वादे जायते तत्त्वबोधः।** भारतीय दार्शनिकों ने भी यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि असत्य के मार्ग पर चलते हुए भी सत्य तक पहुंचा जा सकता है—**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत्सत्यं समीहते।**

---

१. "महामतिः प्राह न तत्त्वतः किमप्यस्त्यत्र मायेयमहो विजृम्भते।
विलोक्यमानं निखिलं चराचरं स्वप्नेन्द्रजालादिनिभं विभाव्यते॥" पद्मा०, ३/१६६

२. "शिष्यो गुरुः पुण्यमपुण्यमात्मजः पिता कलत्रं रमणः परो निजः।
इत्यादिकं यद्व्यवहार इत्यसौ किञ्चित् पुनश्चञ्चति नैव तात्त्विकम्॥" पद्मा०, ३/१६७

३. पद्मा०, ३/१६९

४. "मांसं तटान्ते परिमुच्य जम्बुको मीनोपलम्भाय लघुप्रधावितः।
मीनो जलान्तः प्रविवेश सत्वरं मांसं च गृध्रो हरति स्म तद् यथा॥" पद्मा०, ३/१६८

५. पद्मा०, ३/१७१

६. पद्मा०, ३/१७२

७. "केचिदित्थं यतः प्राहुर्नास्तिकागममाश्रिताः।" चन्द्रप्रभ०, २/४४

८. "अजीवश्च कथं जीवापेक्षस्तस्यात्यये भवेत्।" चन्द्रप्रभ०, २/४५

९. "कथं च जीवधर्माः स्युर्बन्धमोक्षादयस्ततः।
सति धर्मिणि धर्मा हि भवन्ति न तदत्यये॥" चन्द्रप्रभ०, २/४६

१०. "तस्मादुपप्लुतं सर्वं तत्त्वं तिष्ठतु संवृतम्।
प्रसार्यमाणं शतधा शीर्यते जीर्णवस्त्रवत्॥" चन्द्रप्रभ०, २/४७

११. "प्रतिजन्तु यतो जीवः स्वसंवेदनगोचरः।
सुखदुःखादिपर्यायैराक्रान्तः प्रतिभासते॥" चन्द्रप्रभ०, २/५५

१२. "न चास्वविदितं ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत्।" चन्द्रप्रभ०, २/५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org